तत्त्वसार

अनुक्रमणिका

प्रथम पर्व

01) मंगलाचरण
02) अनेक भेदरूप तत्त्व
03) स्व-पर तत्त्व
04) अरिहंतादिक पर-तत्त्व की आराधना का फल
05) स्व-तत्त्व के दो प्रकार
06) निर्विकल्पक स्वगत तत्त्व
08) शुद्धभाव

द्वीतीय पर्व

09) निर्ग्रन्थ होकर निर्विकल्प तत्त्व का ध्यान
10) निर्ग्रन्थ श्रमण
11) ध्यान की सामर्थ्य किसे?
12) काल आदि लब्धियों द्वारा उत्तम सामाग्री की प्राप्ति
13) कर्म क्षय के लिए ध्यान अत्याधिक आवश्यक
14) इस काल को ध्यान योग्य न मानना मिथ्या
15) आज भी ध्यान संभव
16) मोक्ष-सुख की इच्छा वाले को ध्यान की प्रेरणा
17) ध्येय आत्मा का स्वरूप
18) ध्यान की विधि
19) ध्येय आत्मा
20) शुद्धात्मा इन स्थानों से रहित
21) शुद्धात्मा इंद्रियों का विषय नहीं

तृतीय पर्व

22) कर्म-जनित पर्याय को जीव कहना उपचार
23) आत्मा और कर्म का संबंध
24) चेतन और अचेतन का भेद-ज्ञान
25) भेद-ज्ञान पूर्वक आत्मा का ग्रहण
26) शुद्धात्मा सिद्ध समान
27) ध्याता अपने को सिद्ध-समान देखे
28) ध्यान का विषय
29) मन और इंद्रियों का व्यापार रुकने पर आत्म-दर्शन
30) उदाहरण
31) योगी को आत्मा की प्राप्ति
32) ध्यान द्वारा संवर-निर्जरा-मोक्ष

चतुर्थ पर्व

33) चंचल चित्त पूर्वक तप मुक्ति का साधन नहीं
34) पर से ममत्व करने पर बंध
35) मूढ़ के राग-द्वेष
36) ज्ञानी जीव का पर को लेकर दृष्टिकोण
37) योगी को किसी से राग-द्वेष नहीं
38) सभी जीवों के प्रति समभाव
39) वस्तु-स्वभाव के ज्ञाता को राग-द्वेष का अभाव
40) आत्म-दर्शन किसे
41) उदाहरण

42) अनासक्त योगी को आत्म दर्शन
43) निज-तत्त्व ही उपादेय
44) आत्मा का ध्याता ही वीतरागी
45) आत्मा का ध्याता को ही रत्नत्रय

पंचम पर्व

46) आत्म-ध्यान से रहित को शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं
47) इंद्रिय-सुख में लीन को शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं
48) बहिरात्मा
49) शरीर से अनासक्त को मुक्ति
50) कर्मोदय-कृत परीषह में लाभ
51) वीतरागी को कर्म की निर्जरा
52) शुभ-अशुभ के कर्ता को बंध
53) सूक्ष्म-राग भी मुक्ति में बाधक
54) कर्म-उदय को धीरता से सहना ही तप और उस द्वारा कर्मों की निर्जरा
55) निश्चय संवर और निर्जरा के धारक
56) निश्चय रत्नत्रय
57) आत्मानुभव ही रत्नत्रय
58) योगियों को परम आनंद
59) जिससे अतींद्रिय आनंद उत्पन्न हो, वही योग
60) चलित-मन को परम आनंद की उपलब्धि नहीं
61) कारण-परमात्मा
62) इंद्रिय-विषयों से अनासक्त योगी को आत्मलाभ
63) योगियों को ध्यान-शस्त्र द्वारा मरण
64) मोह के नष्ट होते ही मन नष्ट और उससे कर्म नष्ट
65) उदाहरण
66) केवलज्ञान की उत्पत्ति

षष्ठ पर्व

67) सिद्ध-अवस्था
69) केवलज्ञान
70) सिद्ध जीव का अवस्थान
71) मुक्त-जीव की गति
72) सिद्ध-जीव का आकार
73) स्व-पर गत तत्त्व के ज्ञान का महत्व
74) उपसंहार

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-देवसेनाचार्य विरचित

श्री

तत्त्वसार

मूल प्राकृत गाथा, पद्य : पं द्यानतराय

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-तत्त्वसार नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य श्रीदेवसेनाचार्य विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र श्री-तत्त्वसार नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर श्रीदेवसेनाचार्य द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

(देव वंदना)

सुध्यान में लवलीन हो जब, घातिया चारों हने ।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लिया तब आपने ॥
उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निज सम कर लिये ।
रविज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये ॥

(शास्त्र वंदना)

स्याद्वाद, नय, षट् द्रव्य, गुण, पर्याय और प्रमाण का ।
जड़कर्म चेतन बंध का, अरु कर्म के अवसान का ॥

कहकर स्वरूप यथार्थ जग का, जो किया उपकार है ।
उसके लिये जिनवाणी माँ को, वंदना शत बार है ॥
(गुरु वंदना)
नि:संग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से ।
निज आत्म में ही विहरते, जीवन न पर की आस से ॥
जिनके निकट सिंहादि पशु भी, भूल जाते क्रूरता ।
उन दिव्य गुरुओं की अहो! कैसी अलौकिक शूरता ॥
(भाषा छन्दोबद्धकार का मंगलाचरण)
आदिसुखी अन्त:सुखी, शुद्ध सिद्ध भगवान् ।
निज प्रताप परताप बिन, जगदर्पन जग आन ॥1॥

मंगलाचरण

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सुतच्चसारं पवोच्छामि ॥1॥
ध्यान दहन विधि-काठ दहि, अमल सुद्ध लहि भाव ।
परम जोतिपद वंदिकै, कहूँ तत्त्वकौ राव ॥1॥
अन्वयार्थ : [झाणग्गिदड्ढकम्मे] आत्मध्यानरूप अग्नि से ज्ञानावरणादि कर्मों को दग्ध करनेवाले, [णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे] निर्मल और परम विशुद्ध आत्मस्वभाव को प्राप्त करनेवाले [परमसिद्धे] परम सिद्ध परमात्माओं को [णमिऊण] नमस्कार करके [सुतच्चसारं] श्रेष्ठ तत्त्वसार को [मैं देवसेन] [पवोच्छामि] कहूँगा।

अनेक भेदरूप तत्त्व

तच्चं बहु-भेय-गयं पुव्वायरिएहिं अक्खियं लोए।
धम्मस्स वत्तणट्ठं भवियाण पबोहणट्ठं च ॥2॥
(चौपाई)
तत्त्व कहे नाना परकार, आचारज इस लोकमँझार ।
भविक जीव प्रतिबोधन काज, धर्मप्रवर्तन श्रीजिनराज ॥2॥
अन्वयार्थ : [लोए] इस लोक में [पुव्वायरिएहिं] पूर्वाचार्यों ने [धम्मस्स वत्तणट्ठं] धर्म का प्रवर्तन करने के लिए [च] तथा [भवियाण पबोहणट्ठं] भव्यजीवों को समझाने के लिए [तच्चं] तत्त्व को [बहुभेयगयं] अनेक भेदरूप [अक्खियं] कहा है।

स्व-पर तत्त्व

एगं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं ।
सगयं णिय-अप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी ॥3॥
आतमतत्त्व कह्यौ गणधार, स्वपरभेदतैं दोइ प्रकार ।
अपनौ जीव स्वतत्त्व बखानि, पर अरहंत आदि जिय जानि ॥3॥
अन्वयार्थ : [एग] एक [सगयं] स्वगत [तच्च] स्वतत्त्व है [तह] तथा [पुणो] फिर [अण्णं] दूसरा [परगयं] परतत्त्व [भणिय] कहा गया है। [सगयं] स्वगत तत्त्व [णिय] निज [अप्पाणं] आत्मा है; [इयर] दूसरा (परगततत्त्व) [पंचावि परमेट्ठी] पांचों ही परमेष्ठी हैं ।

अरिहंतादिक पर-तत्त्व की आराधना का फल

तेसिं अक्खर-रूवं भविय-मणुस्साण झायमाणाणं ।

बज्झइ पुण्णं बहुसो परंपराए हवे मोक्खो ॥4॥

अरहंतादिक अच्छर जेह, अरथ सहित ध्यावै धरि नेह ।

विविध प्रकार पुन्य उपजाय, परंपराय होय सिवराय ॥4॥

अन्वयार्थ : [तेसि] उन पंच परमेष्ठियों के [अक्खरख्व] वाचक अक्षररूप मंत्रों को [झायमाणाणं] ध्यान करनेवाले [भवियमणुस्साण] भव्यजनों के [बहुसो] बहुत-सा [पुण्णं] पुण्य [बज्झइ] बंधता है; [परंपराए] और परम्परा से [मोक्खो] मोक्ष [हवे] प्राप्त होता है।

स्व-तत्त्व के दो प्रकार

जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं ।

सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगय-संकप्पं ॥5॥

आतमतत्त्वने द्वै भेद, निरविकलप सविकलप निवेद ।

निरविकलप संवर को मूल, विकलप आस्रव यह जिय भूल ॥5॥

अन्वयार्थ : [पुणु] पुनः [ज] जो [सगयं तच्चं] स्वगत तत्त्व है वह [सवियप्पं] सविकल्प [तह य] तथा [अवियप्पं] अविकल्प रूप से दो प्रकार का [हवइ] है। [सवियप्पं] सविकल्प स्वतत्व [सासवयं] आस्रव सहित है। और [विगयसंकप्प] संकल्प-रहित निर्विकल्प स्वतत्त्व [णिरासवं] आस्रव-रहित है।

निर्विकल्पक स्वगत तत्त्व

इंदिय-विसय-विरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया ।

तइया तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु ॥6॥

जहां न व्यापै विषय विकार, ह्वै मन अचल चपलता डार ।

सो अविकल्प कहावै तत्त, सोई आपरूप है सत्त ॥6॥

अन्वयार्थ : [जइया] जब [इंदिय विसयविरामे] इन्द्रियों के विषयों का विराम [इच्छानिरोध] हो जाता है [तइया] तब [मणस्स] मन का [पिल्लूरणं] निर्मूलन [हवे] होता है, और तभी [तं] वह [अवियप्पं] निर्विकल्पक स्वगत तत्त्व प्रकट होता है । [तं तु] और वह [अप्पणो] आत्मा का [ससरूवे] अपने स्वरूप में अवस्थान होता है।

समणे णिच्चल-भूए णट्ठे सव्वे वियप्प-संदोहे ।

थक्को सुद्ध-सहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो ॥7॥

मन थिर होत विकल्पसमूह, नास होत न रहै कछु रूह ।

सुद्ध स्वभावविषै ह्वै लीन, सो अविकल्प अचल परवीन ॥7॥

अन्वयार्थ : [समणे] अपने मन के [णिच्चलभूए] निश्चलीभूत होने पर [सव्वे] सर्व [वियप्पसंदोहे] विकल्प-समूह के [णट्ठे] नष्ट होने पर [अवियप्पो] विकल्प-रहित निर्विकल्प [णिच्चलो] निश्चल [णिच्चो] नित्य [सुद्धसहावो] शुद्ध स्वभाव [थक्को] स्थिर हो जाता है ।

शुद्धभाव

जो खलु सुद्धो भावो सो अप्पा तं च दंसणं णाणं ।

चरणं पि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥8॥

सुद्धभाव आतम दृग ज्ञान, चारित सुद्ध चेतनावान ।

इन्हैं आदि एकारथ वाच, इनमैं मगन होइकै राच ॥8॥

अन्वयार्थ : [जो] जो [खलु] निश्चय से [सुद्धोभावो] शुद्धभाव है [सो] वह [अप्पा] आत्मा है। [तं च] और वह आत्मा [दसणं] दर्शनरूप [णाणं] ज्ञानरूप [चरणंपि] और चारित्ररूप [भणियं] कहा गया है; [अहवा] अथवा [सा] वह [सुद्धा] शुद्ध [चेयणा] चेतनारूप है।

निर्ग्रन्थ होकर निर्विकल्प तत्त्व का ध्यान

जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्ख-कारणं तं च ।

तं णाऊण विसुद्धं झायहु होऊण णिग्गंथा ॥9॥

परिग्रह त्याग होय निरग्रन्थ, भजि अविकल्प तत्त्व सिवपंथ ।

सार यही है और न कोय, जानै सुद्ध सुद्ध सो होय ॥9॥

अन्वयार्थ : [ज] जो [अवियप्पं] निर्विकल्प [तच्चं] तत्त्व है, [तं] वही [सारं] सार[प्रयोजभूत] है [तं च] और वही [मोक्ख कारणं] मोक्ष का कारण है । [तं] उस [विशुद्धं] विशुद्ध तत्त्व को [णाऊण] जानकर [णिगंथो] निर्ग्रन्थ [होऊण] होकर [झायहु] ध्यान करो।

निर्ग्रन्थ श्रमण

बहिरब्भन्तर-गंथा मुक्का जेणेह तिविह-जोएण ।

सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंग-समासिओ समणो ॥10॥

अन्तर बाहिर परिग्रह जेह, मनवच तनसौं छांड़े नेह ।

सुद्धभाव धारक जब होय, यथा ज्ञान मुनिपद है सोय ॥10॥

अन्वयार्थ : [इह] इस लोक में [जेण] जिसने [तिविहजोएण] मन, वचन, काय इन तीन प्रकार के योगों से [बहिरभंतरगंथा] बाहिरी और भीतरी परिग्रहों को [मुक्का] त्याग दिया है, [सो] वह [जिलिंगसमासिओ] जिनेन्द्रदेव के लिंग का आश्रय करने वाला [समणो] श्रमण [णिग्गंथो] निर्ग्रन्थ [भणिओ] कहा गया है।

ध्यान की सामर्थ्य किसे?

लाहालाहे सरिसो सुह-दुक्खे तह य जीविए मरणे ।

बंधु-अरि-यण-समाणो झाण-समत्थो हु सो जोई ॥11॥

जीवन मरन लाभ अरु हान, सुखद मित्र रिपु गिनै समान ।

राग न रोष करै परकाज, ध्यान जोग सोई मुनिराज ॥11॥

अन्वयार्थ : जो [लाहालाहे] लाभ और अलाभ में, [सुहदुक्खे] सुख और दुःख में [तह य] और उसी प्रकार [जीविए मरणे] जीवन तथा मरण में [सरिसो] सदृश रहता है, इसी प्रकार [बंधुअरियणसमाणो] बन्धु और शत्रु में समान भाव रखता है, [सो हु] निश्चय से वही [जोई] योगी [झाणसमत्यो] ध्यान करने में समर्थ है।

काल आदि लब्धियों द्वारा उत्तम सामाग्री की प्राप्ति

कालाइ-लद्धि णियडा जह जह संभवइ भव्व-पुरिसस्स ।

तह तह जायइ णूणं सुसव्व-सामग्गि मोक्खट्ठं ॥12॥

काललब्धिबल सम्यक वरै, नूतन बंध न कारज करै ।

पूरव उदै देह खिरि जाहि, जीवन मुकत भविक जगमाहि ॥12॥

अन्वयार्थ : [जह जह] जैसे जैसे [भव्वपुरिसस्स] भव्य पुरुष की [कालाइलद्धि] काल आदि लब्धियां [णियडा] निकट [संभवइ] आती जाती हैं, [तह तह] वैसे वैसे ही [णूणं] निश्चय से [मोक्खट्ठ] मोक्ष के लिए [सुसव्वसामग्गि] उत्तम सर्व सामग्री [जायइ] प्राप्त हो जाती है।

कर्म क्षय के लिए ध्यान अत्याधिक आवश्यक

चलण-रहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरु-सिहरमारुहिउं ।

तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥13॥

जैसे चरनरहित नर पंग, चढ़न सकत गिरि मेरु उतंग ।

त्यौं विन साधु ध्यान अभ्यास, चाहै करौ करमकौ नास ॥13॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [चलण-रहिओ] पाद-रहित [मणुस्सो] मनुष्य [मेरु-सिहर] सुमेरु पर्वतके शिखर पर [आरुहिउं] चढ़ने के लिए [वंछइ] इच्छा करे, [तह] वैसे ही [झाणेण] ध्यान से [विहीणो] रहित [साहू] साधु [कम्मक्खयं] कर्मों का क्षय [इच्छइ] करना चाहता है।

इस काल को ध्यान योग्य न मानना मिथ्या

संका-कंखा-गहिया विसय-पसत्ता सुमग्ग-पब्भट्ठा ।

एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ॥14॥

संकितचित्त सुमारग नाहिं, विषैलीन वांछा उरमाहिं ।

ऐसैं आप्त कहैं निरवान, पंचमकाल विषैं नहिं जान ॥14॥

अन्वयार्थ : [संका-कंखागहिया] शंकाशील और (विषय-सुख की) आकांक्षावाले, [विसयपसत्ता] (इन्द्रियो के) विषयों में आसक्त [सुमग्गपन्भट्ठा] और मोक्ष के सुमार्ग से प्रभ्रष्ट [केई] कितने ही पुरुष [एवं] इस प्रकार [भणंति] कहते हैं कि [कालो] यह काल [झाणस्स] ध्यान के योग्य [ण है] नहीं [होइ] है ।

आज भी ध्यान संभव

अज्ज वि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुर-लोए ।

तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ॥15॥

आत्मज्ञान दृग चारितवान, आतम ध्याय लहै सुरथान ।

मनुज होय पावै निरवान, तातैं यहां मुकति मग जान ॥15॥

अन्वयार्थ : [अज्जवि] आज भी [तिरयणवंता] रत्नत्रय-धारक मनुष्य [अप्पा] आत्मा का [झाऊण] ध्यान कर [सुरलोयं] स्वर्गलोक को [जंति] जाते हैं, और [तत्थ] वहां से [चुया] च्युत होकर [मणुयत्ते] उत्तम मनुष्यकुल में [उप्पज्जिय] उत्पन्न हो [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहहि] प्राप्त करते हैं ।

मोक्ष-सुख की इच्छा वाले को ध्यान की प्रेरणा

तम्हा अब्भसऊ सया मोत्तूणं राय दोस वा मोहे ।

झायउ णिय अप्पाणं जइ इच्छह सासयं सोक्खं ॥16॥

यह उपदेस जानि रे जीव, करि इतनौ अभ्यास सदीव ।

रागादिक तजि आतम ध्याय, अटल होय सुख दुख मिटि जाय ॥16॥

अन्वयार्थ : [तम्हा] इसलिए [जइ] यदि [सासयं] शाश्वत [सुक्खं] सुख को [इच्छह] चाहते हो तो [राय दोस वा मोहे] राग, द्वेष और मोह को [मोत्तूणं] छोड़कर [सया] सदा [अब्भसउ] ध्यान का अभ्यास करो और [णिय-अप्पाणं] अपनी आत्मा का [झायउ] ध्यान करो।

ध्येय आत्मा का स्वरूप

दंसण-णाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।

सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥17॥

आप-प्रमान प्रकास प्रमान, लोक प्रमान, सरीर समान ।

दरसन ज्ञानवान परधान, परतैं आन आतमा जान ॥17॥

अन्वयार्थ : [हु] निश्चयनय से आत्मा [दसण-णाणपहाणो] दर्शन और ज्ञानगुण प्रधान है, [असंखदेसो] असंख्यात प्रदेशी है, [मुत्तिपरिहीणो] मूर्ति से रहित है, [सगहियदेहपमाणो] अपने द्वारा गृहीत देह-प्रमाण है -- [एरिसो] ऐसे स्वरूपवाला [अप्पा] आत्मा [णायव्वो] जानना चाहिए।

ध्यान की विधि

रागादिया विभावा बहिरंतर-उहय-वियप्पं मोत्तूणं ।
एयग्ग-मणो झायउ णिरंजणं णियय-अप्पाणं ॥18॥
राग विरोध मोह तजि वीर, तजि विकलप मन वचन सरीर ।
ह्वै निचिंत चिंता सब हारि, सुद्ध निरंजन आप निहारि ॥18॥

अन्वयार्थ : [रागादिया विभावा] रागादि विभावों को, तथा [बहिरंतर-उहवियप्प] बाहिरी और भीतरी दोनों प्रकार के विकल्पों को [मोत्तूणं] छोड़कर और [एयग्गमणो] एकाग्र मन होकर [णिरंजणं] कर्मरूप अंजन से रहित शुद्ध [णियय-अप्पाणं] अपने आत्मा का [झायउ] ध्यान करना चाहिए।

ध्येय आत्मा

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल-लेस्साओ ।
जाइ-जरा-मरणं चिय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥19॥
क्रोध मान माया नहिं लोभ, लेस्या सल्य जहाँ नहिं सोभ ।
जन्म जरा मृतुकौ नहिं लेस, सो मैं सुद्ध निरंजन भेस ॥19॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिसके [ण कोहो] न क्रोध है, [ण माणो] न मान है, [ण माया] न माया है, [ण लोहो] न लोभ है, [ण सल्ल] न शल्य है, [ण लेस्साओ] न कोई लेश्या है, [ण जाइजरा-मरणं चिय] और न जन्म, जरा और मरण भी है, [सो] वही [णिरंजणो] निरंजन [अहं] मैं [भणिओ] कहा गया हूँ।

शुद्धात्मा इन स्थानों से रहित

णत्थि कला संठाणं मग्गण-गुणठाण-जीवठाणाइं ।
ण य लद्धि-बंधठाणा णोदयठाणाइया केई ॥20॥
बंध उदै हिय लबधि न कोय, जीवथान संठान न होय ।
चौदह मारगना गुनथान, काल न कोय चेतना ठान ॥20॥

अन्वयार्थ : [उस निरंजन आत्मा के] [णत्थि कला] कोई कला नहीं है, [संठाणं] कोई संस्थान नहीं है, [मग्गण-गुणठाण] कोई मार्गणास्थान नहीं है, कोई गुणस्थान नहीं है, [जीवट्ठाणाई] और न कोई जीवस्थान है [ण य लद्धि बंधढाणा] न कोई लब्धिस्थान हैं, न कोई बन्धस्थान हैं, [णोदयठाणाइया केई] और न कोई उदयस्थान आदि हैं।

शुद्धात्मा इंद्रियों का विषय नहीं

फास-रस-रूव-गंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयण-भावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥21॥
फरस वरन रस सुर नहि गंध, वरग वरगना जास न खंध ।
नहिं पुदगल नहिं जीवविभाव, सो मैं सुद्ध निरंजन राव ॥21॥

अन्वयार्थ : [पुणो] और [जस्स] जिसके [फास-रस-रूव-गंधा] स्पर्श, रस, गन्ध, रूप [सद्दादीया य] और शब्द आदिक [पत्थि] नहीं हैं [सो] वह [सुद्धो] शुद्ध [चेयणभावो] चेतनभावरूप [अहं] मैं [निरंजणो] निरंजन [भणिओ] कहा गया हूँ।

कर्म-जनित पर्याय को जीव कहना उपचार

अत्थित्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे ।
णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविह-भेय-गया ॥22॥

विविध भाँति पुदगल परजाय, देह आदि भाषी जिनराय ।
चेतन की कहियै व्योहार, निहचैं भिन्न-भिन्न निरधार ॥22॥

अन्वयार्थ : [पुणो] पुनः [ववहारिएण णएण] व्यावहारिक नय से [विविहभेयगया] अनेक भेद-गत [ए सव्वे] ये सर्व [णोकम्मकम्मणादी] नोकर्म और कर्म-जनित [पज्जाया] पर्याय [अत्थित्ति] जीव के हैं, ऐसा [भणिया] कहा गया है।

आत्मा और कर्म का संबंध

संबंधो एदेसिं णायव्वो खीर-णीर-णाएण ।
एकत्तो मिलियाणं णिय-णिय-सब्भाव-जुत्ताणं ॥23॥
जैसैं एकमेक जल खीर, तैसैं आनौ जीव सरीर ।
मिलैं एक पै जदे त्रिकाल, तजै न कोऊ अपनी चाल ॥23॥

अन्वयार्थ : [णिय-णियसब्भावजुत्ताणं] अपने अपने सद्भाव से युक्त, किन्तु [एकत्तो मिलियाणं] एकत्व को प्राप्त [एदेसिं] इन जीव और कर्म का [संबंधो] सम्बन्ध [खीर-णीरणाएण] दूध और पानी के न्याय से [णायव्वो] जानना चाहिए।

चेतन और अचेतन का भेद-ज्ञान

जह कुणइ को वि भेयं पाणिय-दुद्धाण तक्कजोएणं ।
णाणी वि तहा भेयं करेइ वरझाणजोएणं ॥24॥
नीर खीरसौं न्यारौ होय, छांछिमाहिं डारै जो कोय ।
त्यौं ज्ञानी अनुभौ अनुसरै, चेतन जड़सौं न्यारौ करै ॥24॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [को वि] कोई पुरुष [तक्कजोएण] तर्क के योग से [पाणिय-दुद्धाण] पानी और दूध का [भेयं] भेद [कुणइ] करता है, [तहा] उसी प्रकार [णाणी वि] ज्ञानी पुरुष भी [वर-झाणजोएणं] उत्तम ध्यान के योग से [भेयं] चेतन और अचेतनरूप स्व-पर का [भेयं] भेद [करेइ] करता है।

भेद-ज्ञान पूर्वक आत्मा का ग्रहण

झाणेण कुणउ भेयं पुग्गल-जीवाण तह य कम्माणं ।
घेत्तव्वो णिय अप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो ॥25॥
(दोहा)
चेतन जड़ न्यारौ करै, सम्यकदृष्टी भूप ।
जड़ तजिकैं चेतन गहै, परमहंसचिद्रूप ॥25॥

अन्वयार्थ : [झाणेण] ध्यान से [पुग्गल-जीवाण] पुद्गल और जीव का [तह य] और उसी प्रकार [कम्माणं] कर्म और जीव का [भेयं] भेद [कुणउ] करना चाहिए। तत्पश्चात् [सिद्धसरूवो] सिद्ध-स्वरूप [परो बंभो] परम ब्रह्मरूप [णिय अप्पा] अपना आत्मा [णेत्तव्यो] ग्रहण करना चाहिए।

शुद्धात्मा सिद्ध समान

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥26॥
ज्ञानवान अमलान प्रभु, जो सिवखेतमँझार ।
सो आतम मम घट बसै, निहचै फेर न सार ॥26॥

अन्वयार्थ : [जारिसो] जैसा [मल-रहिओ] कर्म-मल से रहित, [णाणमओ] ज्ञानमय [सिद्धो] सिद्धात्मा [सिद्धीए] सिद्धलोक में [णिवसइ] निवास करता है, [तारिसओ] वैसा ही [परमो बंभो] परमब्रह्मस्वरूप अपना आत्मा [देहत्थो] देह में स्थित [मुणेयव्वो] जानना चाहिए।

ध्याता अपने को सिद्ध-समान देखे

णोकम्म-कम्मरहिओ, केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो ।
सो हं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥27॥
सिद्ध सुद्ध नित एक मैं, ज्ञान आदि गुणखान ।
अगन प्रदेस अमूरती, तन प्रमान तन आन ॥27॥

अन्वयार्थ : [जो] जो सिद्ध जीव, [णोकम्म-कम्मरहिओ] [शरीरादि] नोकर्म, [ज्ञानावरणादि] द्रव्यकर्म तथा [राग-द्वेषादि] भावकर्म से रहित है, [केवलणाणाइ-गुणसमिद्धो] केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से समृद्ध है, [सो हं] वही मैं [सिद्धो] सिद्ध हूँ, [सुद्धो] शुद्ध हूँ, [णिच्चो] नित्य हूँ, [एक्को] एक स्वरूप हूँ और [णिरालंबो] निरालंब हूँ।

ध्यान का विषय

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइसमिद्धो हं ।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥28॥
सिद्ध सुद्ध नित एक मैं, निरालम्ब भगवान् ।
करमरहित आनंदमय, अभै अखै जग जान ॥28॥

अन्वयार्थ : [सिद्धोहं] मैं सिद्ध हूँ, [सुद्धो हं] मैं शुद्ध हूँ, [अणंतणाणाइसमिद्धो हं] मैं अनन्त ज्ञानादि से समृद्ध हूँ, [देहपमाणो] मैं शरीर-प्रमाण हूं, [णिच्चो] मैं नित्य हूं, [असंखदेसो] में असंख्य प्रदेशी हूँ, [अमुत्तो य] और अमूर्त हूं।

मन और इंद्रियों का व्यापार रुकने पर आत्म-दर्शन

थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे ।
पयडइ बंभसरूवं अप्पा झाणेण जोईणं ॥29॥
मनथिर होत विषै घटै, आतमतत्त्व अनूप ।
ज्ञान ध्यान बल साधिकै, प्रगटै ब्रह्मसरूप ॥29॥

अन्वयार्थ : [मणसंकप्पे] मन के संकल्पों के [थक्के] बन्द हो जाने पर [अक्खण] और इन्द्रियों के [विसयवावारे] विषय-व्यापार के [रुद्ध] रुक जाने पर [जोईणं] योगियों के [झाणेण] ध्यान के द्वारा [बंभसरूवं] ब्रह्मस्वरूप [अप्पा] आत्मा [पयडइ] प्रकट होता है।

उदाहरण

जह जह मणसंचारा इंदियविसया वि उवसमं जंति ।
तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं जह णहे सूरो ॥30॥
अंबर घन फट प्रगट रवि, भूपर करै उदोत ।
विषय कषाय घटावतैं, जिय प्रकास जग होत ॥30॥

अन्वयार्थ : [जह जह] जैसे जैसे, [मणसंचारा] मन का संचार और [इंदियविसया वि] इन्द्रियों के विषय भी [उवसम] उपशमभाव को [जंति] प्राप्त होते हैं, [तह तह] वैसे वैसे ही [अप्पा] अपना आत्मा [अप्पाणं] अपने शुद्धस्वरूप को [पयडइ] प्रकट करता है, [जह] जैसे [णहे] आकाश में [सूरो] सूर्य।

योगी को आत्मा की प्राप्ति

मण-वयण-कायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं ।
तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं ॥31॥
मन वच काय विकार तजि, निरविकारता धार ।

प्रगट होय निज आतमा, परमातमपद सार ॥31॥

अन्वयार्थ : [जइणो] योगी के [जइ] यदि [मण-वयण-कायजोया] मन, वचन और काययोग [णिव्वियारत्त] निर्विकारता को [जंति] प्राप्त हो जाते हैं [तो] तो [अप्पा] आत्मा [अप्पाणं] अपने [परमप्पयसरूव] परमात्मस्वरूप को [पयडइ] प्रकट करता है।

ध्यान द्वारा संवर-निर्जरा-मोक्ष

मण-वयण-कायरोहे (बज्झइ) रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।

चिर-बद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं ॥32॥

मौनगहित आसन सहित, चित्त चलाचल खोय ।

पूरव सत्तामैं गले, नये रुकैं सिव होय ॥32॥

अन्वयार्थ : [मण-वयण-कायरोहे] मनवचनकाय की चंचलता रुकने पर [कम्माण] कर्मों का [आसवो] आस्रव [णूणं] निश्चय से [रुज्झइ] रुक जाता है। तब [चिर-बद्ध] चिरकालीन बंधा हुआ कर्म [जोईणं] योगियों का [सयं] स्वयं [गलइ] गल जाता है और [फलरहियं] फल-रहित [जाइ] हो जाता है।

चंचल चित्त पूर्वक तप मुक्ति का साधन नहीं

ण लहइ भव्वो मोक्खं जावय परदव्ववावडो चित्तो ।

उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥33॥

भव्य करैं चिरकाल तप, लहैं न सिव विन ज्ञान ।

ज्ञानवान ततकाल ही, पावैं पद निरवान ॥33॥

अन्वयार्थ : [जावय] जबतक [चित्तो] मन [पर दव्ववावडो] पर-द्रव्यों में व्याप्त [व्यापारयुक्त] है, तबतक [उग्ग तवं पि] उग्र तप को भी [कुणंतो] करता हुआ [भव्वो] भव्य जीव [मोक्खं] मोक्ष को [ण लहइ] नहीं पाता है। किन्तु [शुद्ध भावे] शुद्ध भाव में लीन होने पर [लहुं] शीघ्र ही [लहइ] पा लेता है।

पर से ममत्व करने पर बंध

परदव्वं देहाई कुणइ ममत्तिं च जाय तेसुवरिं ।

परसमयरदो तावं बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥34॥

देह आदि परद्रव्यमैं, ममता करै गँवार ।

भयौ परसमैं लीन सो, बांधै कर्म अपार ॥34॥

अन्वयार्थ : [देहाई] देहादिक [परदव्वं] पर-द्रव्य हैं, [जाय च] और जबतक [तेसुवरि] उनके ऊपर [ममत्ति] ममत्व भाव [कुणइ] करता है, [तावं] तबतक वह [पर-समय-रदो] परसमय में रत है, अतएव [विविहेहिं] नाना प्रकार के [कम्मेहिं] कर्मों से [बज्झदि] बंधता है।

मूढ़ के राग-द्वेष

रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसएहि वसगओ मूढो ।

सकसाओ अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥35॥

इंद्रीविषै मगन रहै, राग दोष घटमाहिं ।

क्रोध मान कलुषित कुधी, ज्ञानी ऐसौ नाहिं ॥35॥

अन्वयार्थ : [इंदिय-विसएहिं] इन्द्रियों के विषयों में [वसगओ] आसक्त [मूढो] मूढ़ [सकसाओ] कषाय-युक्त [अण्णाणी] अज्ञानी पुरुष [णिच्च] नित्य [रूसइ] किसी में रुष्ट होता है और किसी में [तूसइ] सन्तुष्ट होता है, किन्तु [णाणी] ज्ञानी पुरुष [एत्तो दु] इससे [विवरीदो] विपरीत [स्वभाववाला] होता है ।

ज्ञानी जीव का पर को लेकर दृष्टिकोण

चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थो हं रूसेमि य कस्स तूसेमि ॥36॥
देखै सो चेतन नहीं, चेतन देखौ नाहिं ।
राग दोष किहिसौं करौं, हौं मैं समतामाहिं ॥36॥

अन्वयार्थ : [इत्थ] इस संसार में [चेयण-रहिओ] चेतन-रहित पदार्थ [दीसइ] दिखाई देता है, [चेयणा-सहिओ] और चेतना-सहित पदार्थ [ण य दीसइ] नहीं दिखाई देता है; [तम्हा] इस कारण [मज्झत्थोह] मध्यस्थ मैं [कस्स] किससे [रूसेमि] रुष्ट होऊँ [तूसेमि य] और किससे सन्तुष्ट होऊँ ?

योगी को किसी से राग-द्वेष नहीं

अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वे वि तिहुयणत्था वि ।
सो मज्झत्थो जोई ण य रूसइ णेय तूसेइ ॥37॥
थावर जंगम मित्र रिपु, देखै आप समान ।
राग विरोध करै नहीं, सोई समतावान ॥37॥

अन्वयार्थ : [तिहुयणत्था वि] तीन भुवन में स्थित भी [सव्वे वि] सभी [जीवा] जीव [अप्पसमाणा] अपने समान [दिट्ठा] दिखाई देते हैं, [सो] इसलिए वह [मज्झत्थो] मध्यस्थ [जोई] योगी [ण य] न तो [रूसइ] किसी से रुष्ट होता है [णेय] और नहीं [तूसेइ] किसी से सन्तुष्ट होता है।

सभी जीवों के प्रति समभाव

जम्मण-मरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा ।
सगुणेहिं सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण ॥38॥
सब असंखपरदेसजुत, जनमै मरे न कोय ।
गुणअनंत चेतनमई, दिव्यदृष्टि धरि जोय ॥38॥

अन्वयार्थ : [णिच्छयणएण] निश्चयनय से सभी जीव [जम्मणमरणविमुक्का] जन्म-मरण से विमुक्त [अप्पपएसेहिं] आत्मप्रदेशों की अपेक्षा [सव्वसामण्णा] सभी समान [सगुणेहिं सव्वसरिसा] आत्मीय गुणों से सभी सदृश और [णाणमया] ज्ञानमयी हैं।

वस्तु-स्वभाव के ज्ञाता को राग-द्वेष का अभाव

इय एवं जो बुज्झइ वत्थुसहावं णएहिं दोहिं पि ।
तस्स मणो डहुलिज्जइ ण राय-दोसेहिं मोहेहिं ॥39॥
निहचै रूप अभेद है, भेदरूप व्योहार ।
स्यादवाद मानै सदा, तजि रागादि विकार ॥39॥

अन्वयार्थ : [जो] जो ज्ञानी [दोहिं पि] दोनों ही [णएहिं] नयों से [इय एवं] यह इस प्रकार का [वत्थुसहाव] वस्तु-स्वभाव [बुज्झइ] जानता है [तस्स] उसका [मणो] मन [राय-दोसेहिं] राग-द्वेष [मोहेहिं] और मोह से [ण डहुलिज्जइ] डंवाडोल नहीं होता है।

आत्म-दर्शन किसे

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मण-सलिलं ।
सो णिय-तच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥40॥
राग दोष कल्लोलबिन, जो मन जल थिर होय ।

सो देखै निजरूपकौं, और न देखै कोय ॥40॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिसका [मणसलिलं] मनरूपी जल [रागद्दोसादीहि य] रागद्वेष आदि के द्वारा [णेय] नहीं [डहुलिज्जइ] डंवाडोल होता है [सो] वह [णियतच्चं] निजतत्त्व को [पिच्छइ] देखता है; [तस्स] इससे [विवरीओ] विपरीत पुरुष [ण हु] निश्चय से नहीं [पिच्छइ] देखता है।

उदाहरण

सर-सलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियं पि जह रयणं ।
मण-सलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥41॥
अमल सुथिर सरवर भयैं, दीसै रतनभण्डार ।
त्यौं मन निरमल थिरविषैं, दीसै चेतन सार ॥41॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [सरसलिले] सरोवर के जल के [थिरभूए] स्थिर होने पर [णिवडियं पि] सरोवर में गिरा हुआ भी [रयणं] रत्न [णिरु] नियम से [दीसइ] दिखाई देता है, [तहा] उसी प्रकार [मणसलिले] मनरूपी जल के [थिरभूए] स्थिर होने पर [विमले] निर्मल भाव में [अप्पा] आत्मा [दीसइ] दिखाई देता है।

अनासक्त योगी को आत्म दर्शन

दिट्ठे विमल-सहावे णिय-तच्चे इंदियत्थ-परिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणुसत्तं खणद्धेण ॥42॥
देखैं विमलसरूपकौं, इन्द्रियविषै विसार ।
होय मुकति खिन आधमैं, तजि नरभौ अवतार ॥42॥

अन्वयार्थ : [विमलसहावे] निर्मल स्वभाववाले, [इंदियत्थपरिचत्त] इन्द्रियों के विषयों से रहित [णियतच्चे] निज आत्मतत्त्व के [दिट्ठे] दिखाई देने पर [खणद्धेण] आधे क्षण में [जोइस्स] योगी के [अमाणुसत्त] अमानुषपना [फुड] स्पष्ट प्रकट [जायइ] हो जाता है ।

निज-तत्त्व ही उपादेय

णाणमयं णिय-तच्चं मेल्लिय सव्वे वि पर-गया भावा ।
ते छंडिय भावेज्जो सुद्ध-सहावं णियप्पाणं ॥43॥
ज्ञानरूप निज आतमा, जड़सरूप पर मान ।
जड़तजि चेतन ध्याइयै, सुद्धभाव सुखदान ॥43॥

अन्वयार्थ : [णाणमयं] ज्ञानमयी [णियतच्चं] निजतत्त्व को [मेल्लिय] छोड़कर [सव्वेवि] सभी [भावा] भाव [परगया] परगत हैं; [ते छंडिय] उन्हें छोड़कर [सुद्धसहाव] शुद्ध-स्वभाववाले [णियप्पाणं] निज आत्मा की ही [भावेज्जो] भावना करनी चाहिए।

आत्मा का ध्याता ही वीतरागी

जो अप्पाणं झायदि संवेयण-चेयणाइ-उवजुत्तो ।
सो हवइ वीयराओ णिम्मल-रयणत्तओ साहू ॥44॥
निरमल रत्नत्रय धरैं, सहित भाव वैराग ।
चेतन लखि अनुभौ करैं, वीतरागपद जाग ॥44॥

अन्वयार्थ : [जो संवेयणचेयणाइ उवजुत्तो] जो स्व-संवेदन चेतनादि से उपयुक्त [साहू] साधु [अप्पाणं] आत्मा को [झायदि] ध्याता है [सो] वह [णिम्मलरयणत्तओ] निर्मल रत्नत्रय का धारक [वीयराओ] वीतराग [हवइ] हो जाता है।

आत्मा का ध्याता को ही रत्नत्रय

दंसण-णाण-चरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणइ ।
जो झायइ अप्पाणं सचेयणं सुद्ध-भावट्ठं ॥45॥
देखै जानै अनुसरै, आपविषैं जब आप ।
निरमल रत्नत्रय तहां जहां न पुन्य न पाप ॥45॥
अन्वयार्थ : [जो] जो [जोई] योगी [सचेयणं] सचेतन और [शुद्धभावट्टं] शुद्ध भाव में स्थित योगी परमयोगी [अप्पाणं] आत्मा को [झायइ] ध्याता है [तस्स] उसको [इह] इस लोक में [णिच्छय] निश्चय [दंसणणाण-चरित्त] दर्शन ज्ञान चारित्र [भणइ] कहते हैं।

आत्म-ध्यान से रहित को शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो संवेइ णियय-अप्पाणं ।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्ग-विहीणो जहा रयणं ॥46॥
थिर समाधि वैरागजुत, होय न ध्यावै आप ।
भागहीन कैसैं करै, रतन विसुद्ध मिलाप ॥46॥
अन्वयार्थ : [झाणट्ठिओ] ध्यान में स्थित [जोई] योगी [जइ] यदि [हु] निश्चय से [णिययअप्पाणं] अपने आत्मा को [णो] नहीं [संवेइ] अनुभव करता है [तो] तो वह [तं] उस [सुद्धं] शुद्ध आत्मा को [ण] नहीं [लहइ] प्राप्त कर पाता है। [जहा] जैसे [भग्गविहीणो] भाग्यहीन मनुष्य [रयणं] रत्न को नहीं प्राप्त कर पाता है।

इंद्रिय-सुख में लीन को शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं

देह-सुहे पडिबद्धो जेण य सो तेण लहइ ण हु सुद्धं ।
तच्चं वियार-रहियं णिच्चं चिय झायमाणो हु ॥47॥
विषयसुखनमैं मगन जो, लहै न सुद्ध विचार ।
ध्यानवान विषयनि तजै लहै तत्त्व अविकार ॥47॥
अन्वयार्थ : [वियार-रहियं] विचार-रहित [तच्च] तत्त्वको [णिच्च] नित्य [चिय] ही [झायमाणो हु] निश्चय से ध्यान करता हुआ भी [जेण] यतः [देहसुहे] शरीर के सुख में [पडिबद्धो] अनुरक्त है [तेण] इसलिए [सो] वह [सुद्ध] शुद्ध आत्मस्वरूप को [ण हु] नहीं [लहइ] प्राप्त कर पाता है।

बहिरात्मा

मुक्खो विणास-रूवो चेयण-परिवज्जिओ सया देहो ।
तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो ॥48॥
अथिर अचेतन जड़मई, देह महादुखदान ।
जो यासौं ममता करै, सो बहिरातम जान ॥48॥
अन्वयार्थ : [देहो] शरीर [सया] सदाकाल [मुक्खो] मूर्ख है, [विणासरूवो] विनाशरूप है, [चेयणपरिवज्जिओ] चेतना से रहित है, जो [तस्स] उसकी [ममत्ति] ममता [कुणंतो] करता है [सो] वह [बहिरप्पा] बहिरात्मा [होइ] है।

शरीर से अनासक्त को मुक्ति

रोयं सडणं पडणं देहस्स य पिक्खिऊण जर-मरणं ।
जो अप्पाणं झायदि सो मुच्चइ पंच-देहेहिं ॥49॥
सरै परै आमय धरै, जरै मरै तन एह ।
हरि ममता समता करै, सो न वरै पन-देह ॥49॥
अन्वयार्थ : [देहस्स य] देह के [रोयं] रोग [सडणं] सटन (गलन) और [पडणं] पतन को तथा [जरमरणं] जरा और मरण को

[पिक्खिऊण] देखकर [जो] जो भव्य [अप्पाणं] आत्मा को [झायदि] ध्याता है [स] वह [पंच देहेहिं] पांच प्रकार के शरीरों से [मुच्चइ] मुक्त हो जाता है।

कर्मोदय-कृत परीषह में लाभ

जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणियं तवसा ।
सयमागयं च तं जइ सो लाहो णत्थि संदेहो ॥50॥
पापउदैकौं साधि, तप, करै विविध परकार ।
सो आवै जो सहज ही, बड़ौ लाम है सार ॥50॥
अन्वयार्थ : [ज] जो [कम्म] कर्म [तवसा] तप के द्वारा [उदयस्स] उदय में [आणिय] लाकर [भुंजियव्वं] भोगने के योग्य [होइ] होता है, [तं] वह [जइ] यदि [सयं] स्वयं [आगयं] उदय में आ गया है [सो] वह [लाहो] बड़ा भारी लाभ है; इसमें कोई [संदेहो] सन्देह [पत्थि] नहीं है ।

वीतरागी को कर्म की निर्जरा

भुंजंतो कम्म-फलं कुणइ ण रायं तह य दोसं च ।
सो संचियं विणासइ अहिणव-कम्मं ण बंधेइ ॥51॥
करमउदय फल भोगतें, कर न राग विरोध ।
सो नासै पूरव करम, आगैं करै निरोध ॥51॥
अन्वयार्थ : (जो भव्य जीव) [कम्मफलं] कर्मों के फल को [भुजंतो] भोगता हुआ [ण राय] न राग को [तह य] और [दोसं च] न द्वेष को [कुणइ] करता है [सो] वह [संचियं] पूर्व संचित कर्म को [विणासइ] विनष्ट करता है और [अहिणवकम्म] नवीन कर्म को [ण बंधेइ] नहीं बांधता है।

शुभ-अशुभ के कर्ता को बंध

भुंजंतो कम्म-फलं भावं मोहेण कुणइ सुहमसुहं ।
जइ तो पुणो वि बंधइ णाणावरणादि-अट्ठ-विहं ॥52॥
(चौपाई - 15 मात्रा)
कर्मउदै सुख दुख संजोग, भोगत करैं सुभासुभ लोग ।
तातैं, बांधैं करम अपार, ज्ञानावरनादिक अनिवार ॥52॥
अन्वयार्थ : [कम्मफलं] कर्मों के फल को [भुंजतो] भोगता हुआ अज्ञानी पुरुष [जइ] यदि [मोहेण] मोह से [सुहमसुह] शुभ और अशुभ [भाव] भाव को [कुणइ] करता है, [तो] तब [पुणो वि] फिर भी वह [गाणावरणादि] ज्ञानावरणादि [अट्टविहं] आठ प्रकार के कर्म को [बंधइ] बांधता है।

सूक्ष्म-राग भी मुक्ति में बाधक

परमाणु-मित्त-रायं जाम ण छंडेइ जोइ स-मणम्मि ।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठ-वियाणओ समणो ॥53॥
जबलौं परमानूसम राग, तबलौं करम सकैं नहिं त्याग ।
परमारथ ज्ञायक मुनि सोय, राग तजै बिनु काज न होय ॥53॥
अन्वयार्थ : [जाम] जबतक [जोई] योगी [समणम्मि] अपने मन में से [परिमाणुमित्तरायं] परमाणुमात्र भी राग को [ण छंडेइ] नहीं छोड़ता है, तबतक [परमट्ठवियाणओ] परमार्थ का ज्ञायक भी [स समणो] वह श्रमण [कम्मेण] कर्म से [ण मुच्चइ] नहीं छूटता है।

कर्म-उदय को धीरता से सहना ही तप और उस द्वारा कर्मों की निर्जरा

सुह-दुक्खं पि सहंतो णाणी झाणम्मि होइ दिढ-चित्तो ।

हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठं इमो भणिओ ॥54॥

सुख दुख सहै करम वस साध, कर न राग विरोध उपाध ।

ज्ञानध्यानमैं थिर तपवंत, सो मुनि करै कर्मकौ अन्त ॥54॥

अन्वयार्थ : [सुह-दुक्खं पि] सुख-दुःख को भी [सहंतो] सहता हुआ [णाणी] ज्ञानी पुरुष जब [झाणम्मि] ध्यान में [दिढचित्तो] दृढ़-चित्त [होइ] होता है, तब उसका [तपो] तप [कम्मस्स] कर्म की [णिज्जरणट्ठं] निर्जरा के लिए [हेऊ] हेतु होता है [इमो] ऐसा [भणिओ] कहा गया है।

निश्चय संवर और निर्जरा के धारक

ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं ।

जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥55॥

गहै नहीं पर तजै न आप, करें निरन्तर आतमजाप ।

ताकैं संवर निर्जर होय, आस्रव बंध विनासै सोय ॥55॥

अन्वयार्थ : [जो जीवो] जो जीव [सगं] अपने [भावं] भाव को [ण माह] नहीं छोडता है, [पर] और पर पदार्थरूप [ण परिणमइ] परिणत नहीं होता है, किन्तु [अप्पाणं] अपने आत्मा का [मुणइ] मनन, चिन्तन और अनुभवन करता है, [सो] वह जीव [फुड] निश्चयनय से [संवरणं] संवर और [णिज्जरणं] निर्जरारूप [भणिओ] कहा गया है।

निश्चय रत्नत्रय

स-सहावं वेदंतो णिच्चल-चित्तो विमुक्क-परभावो ।

सो जीवो णायव्वो दंसण-णाणं चरित्तं च ॥56॥

तजि परभाव चित्त थिर कीन, आप-स्वभावविषैं ह्वै लीन ।

सोई ज्ञानवान दृगवान, सोई चारितवान प्रधान ॥56॥

अन्वयार्थ : [ससहावं] अपने आत्मस्वभाव को [वेदंतो] अनुभव करता हुआ जो जीव [विमुक्कपरभावो] परभाव को छोड़कर [णिच्चलचित्तो] निश्चल चित्त होता है [सो जीवो] वही जीव [दंसण-णाणं चरित्तं च] सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक् चारित्र है, ऐसा [णायव्वो] जानना चाहिए।

आत्मानुभव ही रत्नत्रय

जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं ।

सा सुद्ध-चेयणा वि य णिच्छय-णयमस्सिए जीवे ॥57॥

आतमचारित दरसन ज्ञान, सुद्धचेतना विमल सुजान ।

कथन भेद है वस्तु अभेद, सुखी अभेद भेदमैं खेद ॥57॥

अन्वयार्थ : [णिच्छयणयमस्सिए] निश्चयनय के आश्रित [जीवे] जीव में [जो अप्पा] जो आत्मा है, [तं णाणं] वही ज्ञान है, [जं णाणं] और जो ज्ञान है [तं च दंसणं चरणं] वही दर्शन है, वही चारित्र है [सा शुद्धचेयणा वि य] और वही शुद्ध चेतना भी है।

योगियों को परम आनंद

उभय-विणट्ठे भावे णिय-उवलद्धे सु-सुद्ध-ससरूवे ।

विलसइ परमाणंदो जोईणं जोय-सत्तीए ॥58॥

जो मुनि थिर करि मनवचकाय, त्यागै राग दोष समुदाय ।
धरै ध्यान निज सुद्धसरूप, बिलसै परमानंद अनूप ॥58॥
अन्वयार्थ : [उभयविणट्ठे भावे] राग और द्वेषरूप दोनों भावों के विनष्ट होने पर [सुसुद्धससरूवे] अत्यन्त शुद्ध आत्मस्वरूप [णियउवलद्धे] निज भाव के उपलब्ध होने पर [जोयसत्तीए] योगशक्ति से [जोईणं] योगियों के [परमाणंदो] परम आनन्द [विलसइ] विलसित होता है।

जिससे अतींद्रिय आनंद उत्पन्न हो, वही योग

किं किज्जइ जोएणं जस्स य ण हु अत्थि एरिसी सत्ती ।
फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयण-संभवो सुहदो ॥59॥
जिह जोगी मन थिर नहिं कीन, जाकी सकति करम आधीन ।
करइ कहा न फुरे बल तास, लहै न चेतन सुखकी रास ॥59॥
अन्वयार्थ : [जोएण किं कीरइ] उस योग से क्या करना है ? [जस्स य] जिसकी [एरिसी] ऐसी [सत्ती] शक्ति [ण हु] नहीं [अत्थि] है कि उससे [सच्चेयणसंभवो] सत्-चेतन से उत्पन्न [सुहदो] सुखद [परमाणंदो] परमानन्द [ण फुरइ] प्रकट न हो।

चलित-मन को परम आनंद की उपलब्धि नहीं

जा किंचि वि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहिय-जोयस्स ।
ताम ण परमाणंदो उप्पज्जइ परम-सुक्खयरो ॥60॥
जोग दियौ मुनि मनवचकाय, मन किंचित चलि बाहिर जाय ।
परमानंद परम सुखकंद, प्रगट न होय घटामैं चंद ॥60॥
अन्वयार्थ : [जा] जबतक [गहियजोयस्स] योग के धारक [जोइस्स] योगी का [मणो] मन [झाणे] ध्यान में [किंचिवि] कुछ भी [चलइ] चलायमान रहता है [ताम] तब तक [परमसोक्खयरो] परम सुख-कारक [परमाणंदो] परमानन्द [ण उप्पज्जइ] नहीं उत्पन्न होता है।

कारण-परमात्मा

सयल-वियप्पे थक्के उप्पज्जइ को वि सासओ भावो ।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो खु ॥61॥
सब संकल्प विकल्प विहंड, प्रगटै आतमजोति अखण्ड ।
अविनासी सिवकौ अंकूर, सो लखि साध करमदल चूर ॥61॥
अन्वयार्थ : [सयलवियप्पे] समस्त विकल्पों के [थक्के] रुक जाने पर [कोवि] कोई अद्वितीय [सासओ] शाश्वत-नित्य [भावो] भाव [उप्पज्जइ] उत्पन्न होता है [जो] जो [अप्पणो] आत्मा का [सहावो] स्वभाव है; [सो] वह [खु] निश्चय से [मोक्खस्स य] मोक्ष का [कारणं] कारण है।

इंद्रिय-विषयों से अनासक्त योगी को आत्मलाभ

अप्पसहावे थक्को जोई ण मुणेइ आगए विसए ।
जाणइ णिय-अप्पाणं पिच्छइ तं चेव सुविसुद्धं ॥62॥
विषय कषाय भाव करि नास, सुद्धसुभाव देखि जिनपास ।
ताहि जानि परसौं तजि काज, तहां लीन हूजै मुनिराज ॥62॥
अन्वयार्थ : [अप्पसहावे] आत्मस्वभाव में [थक्को] स्थित [जोई] योगी [आगए] उदय में आये हुए [विसए] इन्द्रियों के विषयों को [ण मुणेइ] नहीं जानता है। किन्तु [णिय-अप्पाणं] अपनी आत्मा को ही [जाणइ] जानता है [तं चेव] और उसी [सुविसुद्ध] अतिविशुद्ध आत्मा को [पिच्छइ] देखता है।

योगियों को ध्यान-शस्त्र द्वारा मरण

ण रमइ विसएसु मणो जोइस्सुवलद्धसुद्धतच्चस्स ।
एकीहवइ णिरासो मरइ पुणो झाणसत्थेण ॥63॥
विषय भोगसेती उचटाइ, शुद्धतत्त्वमैं चित्त लगाइ ।
होय निरास आस सब हरै, एक ध्यानअसिसौं मन मरै ॥63॥

अन्वयार्थ : [उवलद्धसुद्धतच्चस्स] जिसने शुद्धतत्त्व को प्राप्त कर लिया है, ऐसे [जोइस्स] योगी का [मणो] मन [विसएस] इन्द्रियों के विषयों में [ण रमह] नहीं रमता है। किन्त [णिरासो] विषयों से निराश होकर आत्मा में [एकीहवइ] एकमेव हो जाता है। [पुणो] पुनः [झाणसत्येण] ध्यानरूपी शस्त्र के द्वारा [मरइ] मरण को प्राप्त हो जाता है।

मोह के नष्ट होते ही मन नष्ट और उससे कर्म नष्ट

ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयं गओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ॥64॥
मरै न मन जो जीवै मोह, मोह मरैं मन जनमन होय ।
ज्ञानदर्श आवर्न पलाय, अन्तरायकी सत्ता जाय ॥64॥

अन्वयार्थ : [जाम] जबतक [सव्वो मोहो] सम्पूर्ण मोह [खयं] क्षय को [ण गओ] नहीं प्राप्त होता है, [ताव] तबतक [इत्थ] इस आत्मा का [मणो] मन [ण मरइ] नहीं मरता है। [खीणमोहे] मोह के क्षीण होने पर [सेसाणि य] शेष भी [घाइकम्माणि] घाति-कर्म [खीयंति] नष्ट हो जाते हैं।

उदाहरण

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं ।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥65॥
जैसे भूप नसैं सब सैन, भाग जाइ न दिखावै नैन ।
तैसे मोह नास जब होय, कर्मघातिया रहै न कोय ॥65॥

अन्वयार्थ : [राए] राजा के [णिहए] मारे जाने पर जैसे [गलियमाहप्पं] जिसका माहात्म्य गल गया है ऐसी [सेण्णं] सेना [सयमेव] स्वयं ही [णासइ] नष्ट हो जाती है, [तह] उसी प्रकार [णिहयमोहराए] मोहराजा के नष्ट हो जाने पर [णिस्सेसघाईणि] समस्त घातिया-कर्म [गलंति] स्वयं ही गल जाते हैं।

केवलज्ञान की उत्पत्ति

घाइचउक्के णट्ठे उप्पज्जइ विमलकेवलं णाणं ।
लोयालोयपयासं कालत्तयजाणगं परमं ॥66॥
कीनैं चारिघातिया हान, उपजै निरमल केवलज्ञान ।
लोकालोक त्रिकाल प्रकास, एक समैंमैं सुखकी रास ॥66॥

अन्वयार्थ : [घाइचउक्के गट्ठे] चारों घातिया कर्मों के नष्ट होने पर [लोयालोयपयासं] लोक और अलोक को प्रकाशित करनेवाला, [कालत्तय जाणगं] तीनों कालों को जाननेवाला, [परम] परम [विमल] निर्मल [केवलणाणं] केवलज्ञान [उप्पज्जइ] उत्पन्न होता है।

सिद्ध-अवस्था

तिहुवणपुज्जो होउं खविउ सेसाणि कम्मजालाणि ।
जायइ अभूदपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥67॥

त्रिभुवन इन्द्र नमैं कर जोर, भाजैं दोषचोर लखि भोर ।
आव जु नाम गोत वेदनी, नासि मयैं नूतन सिवधनी ॥67॥

अन्वयार्थ : [तिहुवणपुज्जो] अरहन्त अवस्था में तीन भुवन के जीवों का पूज्य होकर, पुनः [सेसाणि] शेष [कम्मजालाणि] कर्मजालों को [खविउ] क्षय करके [अभूदपुल्वो] अभूतपूर्व [लोयग्गणिवासिओ] लोकाग्र का निवासी [सिद्धो] सिद्ध परमात्मा [जायइ] हो जाता है।

गमणागमणविहीणो फंदण-चलणेहि विरहिओ सिद्धो ।
अव्वाबाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो ॥68॥
आवागमनरहित निरबंध, अरस अरूप अफास अगंध ।
अचल अबाधित सुख विलसंत, सम्यकआदि अष्टगुणवंत ॥68॥

अन्वयार्थ : [गमणागमणविहीणो] गमन और आगमन से रहित [फंदण-चलणेहि] परिस्पन्द और हलन-चलन से रहित, [अव्वाबाहसुहत्थो] अव्याबाध सुख में स्थित [परमट्ठगुणेहिं] परमार्थ या परम अष्टगुणों से [संजुत्तो] संयुक्त [सिद्धो] सिद्ध परमात्मा होता है।

केवलज्ञान

लोयालोयं सव्वं जाणइ पेच्छइ करणकमरहियं ।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जायगुणकलिए ॥69॥
मूरतिवंत अमूरतिवंत, गुण अनंत परजाय अनंत ।
लोक अलोक त्रिकाल विथार, देखै जानै एकहि बार ॥69॥

अन्वयार्थ : [करणकमरहियं] इंद्रियों के क्रम से रहित एक साथ [सव्वं] सर्व [लोयालोयं] लोक और अलोक को, तथा [अणंतपज्जायगुणकलिए] अनन्त पर्याय और अनन्त गुणों से संयुक्त सभी [मुत्तामुत्ते दव्वे] मूर्त और अमूर्त द्रव्यों को [जाणइ] जानता है और [पेच्छइ] देखता है।

सिद्ध जीव का अवस्थान

धम्माभावे परदो गमणं णत्थि त्ति तस्स सिद्धस्स ।
अच्छइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिओ होउ ॥70॥
(सोरठा)
लोकसिखर तनुवात, कालअनंत तहां बसे ।
धरमद्रव्य विख्यात, जहां तहां लौं थिर रहै ॥70॥

अन्वयार्थ : [तस्स सिद्धस्स] उस सिद्ध परमात्मा का [धम्माभावे] धर्मद्रव्य का अभाव होने से [परदो] लोक से परे अलोक में [गमणं णत्थि त्ति] गमन नहीं है, इस कारण [लोयग्गणिवासिओ होउ] लोकाग्र निवासी होकर वहाँ [अणंतकाल] अनंत काल तक [अच्छइ] रहते हैं।

मुक्त-जीव की गति

संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढगमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥71॥
ऊरधगमन सुभाव, तातैं बंक चलै नहीं ।
लोकअंत ठहराव, आगैं धर्मदरव नहीं ॥71॥

अन्वयार्थ : [मुक्को जीवो] कर्मों से मुक्त हुआ जीव [धम्मदव्वे संते वि] धर्म-द्रव्य के होने पर भी [अहो ण गच्छेइ] नीचे नहीं जाता है, [तह य तिरियं वा] उसी प्रकार तिरछा भी नहीं जाता है। [जम्हा] क्योंकि मुक्त जीव [उड्ढगमणसहाओ] ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला [हवे] है ।

सिद्ध-जीव का आकार

असरीरा जीव घणा चरमसरीरा हवंति किंचूणा ।

जम्मण-मरण-विमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा ॥72॥

रहित जन्म मृति एह, चरमदेहतैं कछु कमी ।

जीव अनंत विदेह, सिद्ध सकल वंदौं सदा ॥72॥

अन्वयार्थ : [पुणो] पुनः [सिद्धा जीवा] वे सिद्ध जीव [असरीरा] शरीर-रहित हैं, [घणा] अर्थात् बहुत घने हैं, [किंचणा] कुछ कम [चरम सरीरा] चरम शरीर प्रमाण हैं, [जन्म-मरण-विमुक्का] जन्म और मरण से रहित हैं। ऐसे [सव्वे सिद्धा] सर्व सिद्धों को [णमामि] मैं नमस्कार करता हूँ ।

स्व-पर गत तत्त्व के ज्ञान का महत्व

जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं ।

तं भव्वजीवसरणं णंदउ सग-परगयं तच्चं ॥73॥

ते हैं भव्य सहाय, जे दुस्तर भवदधि तरैं ।

तत्त्वसार यह गाय, जैवंतौ प्रगटौ सदा ॥73॥

अन्वयार्थ : [जं अल्लीणा] जिसमें तल्लीन हुए [जीवा] जीव [विसमं] विषम [संसार-सायरं] संसार समुद्र को [तरंति] तिर जाते हैं [त] वह [भव्वजीवसरणं] भव्य जीवों को शरणभूत [सग-परगयं] स्व और परगत [तच्चं] तत्त्व [णंदउ] सदा वृद्धि को प्राप्त हो ।

उपसंहार

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण ।

जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥74॥

देवसेन मुनिराज, तत्त्वसार आगम कह्यौ ।

जो ध्यावै हितकाज, सो ज्ञाता सिवसुख लहै ॥74॥

अन्वयार्थ : [जो सद्दिट्ठी] जो सम्यग्दृष्टि [मुणिणाहदेवसेणेण] मुनिनाथ देवसेन के द्वारा [रइयं] रचित [तच्चसारं] इस तत्त्वसार को [सोऊण] सुनकर [भावइ] उसकी भावना करेगा, [सो] वह [सासयं सोक्खं] शाश्वत सुख को [पावइ] पावेगा ।